जनवरी १९९९ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धारण करे तो धर्म

आलंबन केवल सांस का

(जी-टीवी पर क्रमशः चौवालीस कड़ियों में प्रसारित पूज्य गुरुजी के प्रवचनों की **छठवीं कड़ी**)

विपश्यना साधना का लक्ष्य है चित्त को नितांत निर्मल कर लेना। चित्त के विकारों को जड़ों से उखाड़ लेना। इसके लिए हमें अपने चित्त के बारे में, चित्त के विकारों के बारे में स्वयं अनुभूतियों द्वारा जानना होगा और उसमें यह सांस बड़ा उपयोगी होगा। जैसे सांस के सहारे-सहारे आगे बढ़ते हुए हम शरीर के बारे में पूरी जानकारी कर सकेंगे, वैसे ही सांस के सहारे-सहारे आगे बढ़ते हुए अपने चित्त के बारे में, चित्त के विकारों के बारे में पूरी-पूरी जानकारी कर लेंगे।

सांस को जानने का काम इस विद्या का पहला कदम है। आगे और कदम उठायेंगे, पर सांस को जानते-जानते अगर हमें अपने बारे में याने अपने चित्त के बारे में, अपने शरीर के बारे में जानकारी करनी है तो आलंबन को शुद्ध रखना होगा माने सहज स्वाभाविक सांस हो। सांस की कोई कसरत न करने लगें। उसके साथ कोई शब्द न जोड़ दें। कोई रूप, कोई आकृति, कोई कल्पना न जोड़ दें। यथार्थ जैसा है, वैसा है। तो देखेंगे, चित्त के बारे में अनेक सच्चाइयां प्रकट होनी शुरू हो गयीं। हमें अपने मानस की गहराइयों तक जाना है। अगर ऊपर-ऊपर के चित्त को प्रसन्न करना हो, आनंदित करना हो तो यह जो अलग-अलग समाज के अलग-अलग पर्व-उत्सव होते हैं, अलग-अलग कर्मकांड होते हैं, उनमें मन लगा दिया तो लगेगा कि मन को जरा सुख प्राप्त होने लगा, जरा सुकून मिलने लगा। लेकिन अंतर्तम की गहराइयों तक विकारों का निष्कासन कैसे होगा?

अलग-अलग पर्व-उत्सव, अलग-अलग तीज त्यौहार, अलग-अलग समाज को मनाने ही चाहिए। अपने परिवार के सदस्यों के साथ स्नेह-सौहार्द बढ़ाने के लिए अपने समाज के लोगों के साथ सामाजिक सौमनस्यता बढ़ाने के लिए ये सारे सामूहिक आमोद-प्रमोद अच्छे होते हैं। इनमें कोई बुराई नहीं लेकिन इन्हीं को धर्म मान करके अपने भीतर के विकारों को निकालने का काम बंद कर दें तो धर्म धारण करने का जो लक्ष्य है, वह पूरा नहीं होगा। अपने-अपने तीज-त्यौहार मनाते हुए इस बात का ख्याल जरूर रखेंगे कि हम किसी दूसरे समाज के लोगों की भावनाओं को ठेस तो नहीं पहुँचा रहे। उनको दुःखी तो नहीं बना रहे। खूब सजग रहेंगे। आगे जाकर के जब समाज में यह चित्त विशोधन विद्या फैलेगी, खूब फैलेगी, तब तो हमें आशा है, एक समय ऐसा भी आएगा कि एक समाज के तीज-त्यौहार में बाकी सारे समाज के लोग भी शामिल हो रहे हैं। एक समाज के पर्व-उत्सव में बाकी समाज के लोग भी शामिल हो रहे हैं, खूब आनंद मना रहे हैं।

यह सारी अच्छी बातें हैं पर मुख्य बात अपने चित्त को जड़ों तक विकारों से मुक्त करना है। इसके लिए हमें चित्त के बारे में, चित्तवृत्तियों के बारे में, चित्त के विकारों के बारे में खूब अध्ययन करना होगा। पुस्तकों वाला अध्ययन नहीं, अनुभूतियों वाला अध्ययन करना होगा। सांस के सहारे सत्य का दर्शन करते-करते चित्त के बारे में बहुत सी सच्चाइयां उजागर होनी शुरू हो जायेंगी।

नया-नया साधक, नयी-नयी साधिका जब विपश्यना की तपोभूमि में यह विद्या सीखने के लिए आते हैं तो पहले दिन, दूसरे दिन ही ऐसी अवस्था सामने आने लगती है। सांस देखना है, सांस देखते-देखते मन कहीं भटक गया। फिर होश आया, अरे, कहां भटक गया? उसे फिर ले आये। सांस देखते-देखते फिर भटक गया। तो मन के बारे में एक सच्चाई बहुत स्पष्ट सामने आयी। यह मन बड़ा चंचल है। बड़ा चपल है। भटकता ही रहता है। कभी यहां, कभी वहां भटकते ही रहता है। कहां-कहां भटका? देख रहे थे सांस को इतने में मन की अवस्थाएं हमारे सामने आने लगीं, मन का स्वभाव हमारे सामने आने लगा। भटकता है, तो कहां-कहां भटकता है? अरे, कितने विषयों में भटकता है! हम कोई डायरी नहीं लिख सकते और डायरी लिखने भी नहीं देते। लिखें तो भी कहां लिख पायेंगे? कितने विषयों में भटकता है। लेकिन साधक ध्यान से देखता है तो देखता है, दो ही क्षेत्र हैं। मन को भटकने के लिए दो ही क्षेत्र हैं। या तो कोई पुरानी याद आयी। कोई घटना याद आयी और मन भूतकाल में रमण करने लगा। भूतकाल में लोट-पलोट लगाने लगा। ऐसा हुआ था, ऐसा हुआ था, ऐसा हुआ था। इतने में छलांग लगायी, भविष्यकाल में लोट-पलोट लगाने लग गया। ऐसा होना ही चाहिए। अरे, कहीं ऐसा न हो जाय। ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए। लगा भविष्यकाल में लोट-पलोट लगाने।

साधक सच्चाई का दर्शन कर रहा है, अपने मन के स्वभाव का साक्षीभाव से, तटस्थभाव से अध्ययन कर रहा है। तो देखेगा कभी यह मन भूतकाल में जाता है, कभी भविष्यकाल में जाता है। अरे, यह तो वर्तमान में रहता ही नहीं! वर्तमान में रहता नहीं और रहना है वर्तमान में। जीना तो वर्तमान में होगा ना! भूतकाल में कैसे जीयेंगे? जो क्षण चला गया, वह सदा के लिए चला गया। दुनिया की सारी संपदा देकर के उस क्षण को खरीद लायें और उसमें जीयें, यह असंभव बात है। हो नहीं सकती। जो गया सो हमेशा के लिए गया। भविष्य में हम जीयेंगे कैसे? भविष्य जब वर्तमान बनेगा, तब उसमें जीयेंगे। तो भविष्यकाल में जी नहीं सकते, भूतकाल में जी नहीं सकते। जीना है वर्तमान में और हमने हालत क्या बना ली? जब देखो तब भूतकाल, जब देखो तब भविष्यकाल का ही चिंतन चलता है। तो जीना नहीं आया, जीने की कला नहीं आयी।

इस विद्या से जीवन जीने की कला सीखने का पहला कदम – मन को वर्तमान में रख कर जीना है। इस क्षण जो सच्चाई प्रकट हुई। इस क्षण यह सच्चाई प्रकट हुई कि सांस भीतर आ रहा है। यह सच्चाई प्रकट हुई कि सांस बाहर जा रहा है। यह सच्चाई प्रकट हुई कि सांस बायीं नासिका में से गुजर रहा है। यह सच्चाई प्रकट हुई

कि दाहिनी नासिका में से गुजर रहा है या दोनों में से गुजर रहा है। बस, इतना ही देखना है लेकिन नहीं देख पाता। दो-एक सांस देखेगा कि फिर भटक गया भूतकाल में, फिर भटक गया भविष्यकाल में। तो बार-बार, बार-बार उसको वर्तमान की ओर लाते हैं। बार-बार वर्तमान की ओर लाते हैं। वर्तमान में जीने की विद्या सीखनी है। इसका मतलब यह भी न कर लें कि आगे जाकर इस विद्या में पकते-पकते हम अपनी सारी भूतकाल की स्मृतियों को ही भुला देंगे। याद ही नहीं रहेगा और भविष्यकाल के लिए कोई प्लानिंग ही नहीं कर पायेंगे। अरे, नहीं, ऐसा नहीं होता। वर्तमान में हमारे कदम जमे हों और तब जितना आवश्यक है उतना भूतकाल का स्मरण किया, अगला कदम कैसे उठायें, उसका निर्णय किया, यह कला सीख लेंगे।

इस समय तो स्वभाव पलटना है। मन का वह स्वभाव जो प्रतिक्षण भूतकाल में रमण करता है, प्रतिक्षण भविष्यकाल में रमण करता है, उसको वर्तमान में जीना सिखाना है। उसके स्वभाव को पलटने के लिए काम कर रहे हैं। साधना करते-करते साधक एक बात और देखता है। मन के बारे में ही एक बात और सामने आती है। यह जो भूतकाल में रमण करने लगा। यह जो भविष्यकाल में रमण करने लगा तो किस प्रकार के विचार आये? तो देखता है दो ही प्रकार के विचार आते हैं। चाहे भूतकाल के हों, चाहे भविष्यकाल के हों, दो ही प्रकार के विचार होते हैं। कोई भूतकाल की बात याद आयी, बड़ी प्रिय होगी या अप्रिय होगी। भविष्यकाल का कोई चिंतन चला, प्रिय होगा या अप्रिय होगा। तो चाहे भूतकाल में रमण कर रहा है, या भविष्यकाल में रमण कर रहा है। चिंतन प्रिय का चलता है या अप्रिय का चलता है। एक वैज्ञानिक की तरह अनुसंधान कर रहा है – अपने बारे में क्या सच्चाई है? उसको अनुभूतियों के स्तर पर जानने का काम कर रहा है, तो देखेगा, जब-जब मन में कोई प्रिय बात जागी, भूतकाल की जागी कि भविष्यकाल की जागी, कोई प्रिय बात जागी तो बड़ी सुखद लगी, बड़ी सुखद लगी। और जब-जब मन में कोई अप्रिय बात जागी, भूतकाल की जागी या भविष्यकाल की जागी, अप्रिय बात जागी तो बड़ी दुखद लगी, बड़ी दुखद लगी।

अब देखता है, मानस का एक हिस्सा ही देख रहा है मानस के अन्य हिस्सों को। क्या हो रहा है? तो देखता है मानस का एक हिस्सा, जैसे ही कोई भूतकाल की या भविष्यकाल की कोई प्रिय बात चली और वह सुखद लगी तो मानस का एक हिस्सा प्रतिक्रिया करने लगता है – अरे, यह तो बहुत अच्छा, ऐसा तो और चाहिए, और चाहिए, और चाहिए। यों "चाहिए, चाहिए" की मुहारनी चल पड़ती है। इसी प्रकार देखता है, चाहे भूतकाल की बात हो, चाहे भविष्यकाल की हो, जब कोई अप्रिय बात मन में चली और बड़ी दुखद लगी तो मानस का एक हिस्सा प्रतिक्रिया करने लगा – अरे, नहीं चाहिए, यह तो बिल्कुल नहीं चाहिए। ऐसा कभी न हो जाय। तो "नहीं चाहिए, नहीं चाहिए" की मुहारनी चल पड़ी। भाई, यह जो "चाहिए, चाहिए" की मुहारनी है, इसी को भारत की पुरानी भाषा में राग कहते थे, आसक्ति कहते थे, लोभ कहते थे। और "नहीं चाहिए, नहीं चाहिए" की मुहारनी है, इसी को द्वेष कहते थे। तो यह राग, यह द्वेष; यह राग, यह द्वेष। अरे, मन में विचार तो चलते ही रहते हैं। सुखद हैं, दुखद हैं, भूतकाल के हैं, भविष्य काल के हैं, प्रिय लगते हैं, अप्रिय लगते हैं और उनसे राग जगाता है, द्वेष जगाता है।

एक बात और उभर कर सामने आती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक बात मन में उठी और उसका एक वाक्य भी पूरा नहीं हो पाया कि खत्म हो गयी। फिर कोई दूसरी बात मन में शुरू हो गयी। उसका भी एक वाक्य पूरा नहीं हो पाया कि तीसरी बात शुरू हो गयी। कोई सिलसिला नहीं, कोई क्रम नहीं, कोई शृंखला नहीं। क्या हो रहा है? ऊल-जलूल बातें – कभी इधर की, कभी उधर की; कभी इधर की, कभी उधर की। अजीब पागलपन है। पागलपन ही है। दुनियादारी की भाषा में किसको पागलपन कहते हैं? जिस बेचारे ने अपने विचारों की शृंखला खो दी, विचारों का तारतम्य खो दिया, वह पागल हो गया।

एक उदाहरण से समझें। एक व्यक्ति जो पागल हो, कई दिनों से भूखा है। उसके सामने भोजन की थाली परोस कर रख दी गयी। बड़ा खुश। भूखा है ना। खाने के लिए उसमें से एक कौर उठाता है, इतने में विचार और कहीं चले गये। मैं तो गुसलखाने में आया हूं, नहाने के लिए आया हूं और यह साबुन की टिकिया है। उस भोजन के कौर को अपने शरीर पर रगड़ने लगा। यह साबुन की टिकिया है, यह साबुन की टिकिया है। वह बात पूरी हुई नहीं, एक बात और उभर गयी, यह जो आदमी मेरे सामने आया है, यह मेरा दुश्मन है, मुझे मारने आया है। अरे, यह मुझे मार देगा! यह मारे इसके पहले मैं इसको मार दूं! तो कैसे मार दूं? ये हथगोले हैं, ये हथगोले फेंके कि मर जायगा तो सारी रोटियां फेंक दी उठा करके। ऐसे आदमी को पागल ही कहेंगे ना, और क्या कहेंगे?

एक समझदार साधक जब अपने भीतर निरीक्षण करता है, अपने चित्त का निरीक्षण करता है तो देखता है, मैं भी कैसा पागलपन लिए चल रहा हूं। होश ही नहीं। एक विचार चला, वह पूरा नहीं हो पाया कि दूसरा चल पड़ा। दूसरा पूरा नहीं हो पाया कि तीसरा चल पड़ा। कहीं सिर-पैर का कोई संबंध नहीं, कोई क्रम नहीं, कोई सिलसिला नहीं। पागलपन ही है ना? इसी को पुरानी भाषा में कहते थे – मोह है, मूढ़ता है, अज्ञान है, होश ही नहीं है। तो बात समझ में आती है कि मेरे मानस का ऐसा दूषित स्वभाव हो गया कि जब देखो तब या तो राग-रंजित है, या द्वेष-दूषित है, या मोह-विमूढ़ित है। यह राग, यह द्वेष, यह मोह; यह राग, यह द्वेष, यह मोह – अरे, इसी में लोट-पलोट लगाता है और इसी मारे तो दुखियारा है। बड़ा व्याकुल है, बड़ा व्याकुल है। ऊपर-ऊपर से हम हजार अपने मन को समझायें, उसे दबायें – राग नहीं करना चाहिए, द्वेष नहीं करना चाहिए, होश ठिकाने रखने चाहिए। तो कभी-कभी लगेगा ऊपर-ऊपर का मन, यह बौद्धिक स्तर का मन बड़ा ज्ञानी हो गया, बड़ा समझदार हो गया और देखो राग नहीं जगा रहा, द्वेष नहीं जगा रहा, मोह नहीं जगा रहा। अरे, पर वह तो इतना छोटा-सा हिस्सा मन का, बाकी सारा जो है उसमें क्या हो रहा है? मानस की उन तलस्पर्शी गहराइयों में क्या हो रहा है? प्रतिक्षण राग जाग रहा है, या द्वेष जाग रहा है, या मोह जाग रहा है। इन तीनों में से कुछ न कुछ जाग रहा है। जितने भी मन के विकार हैं, वे इन तीनों से ही उत्पन्न होते हैं – राग से उत्पन्न होंगे, द्वेष से उत्पन्न होंगे, मोह से उत्पन्न होंगे। इन तीनों से उत्पत्ति होती है। अंतर्मानस

में इन तीनों का भंडार है। हमारा अंतर्मानस ऐसे स्वभाव-शिकंजे में जकड़ गया कि राग के बाहर निकल ही नहीं पाता, द्वेष के बाहर निकल ही नहीं पाता, मोह के बाहर निकल ही नहीं पाता।

तो यह सांस को देखने की साधना। शुद्ध सांस को देख रहे हैं। साधक दिन भर काम करता है तो कोई-कोई क्षण उसे ऐसा प्राप्त हो ही जाता है जबकि उसने अपने आपको भूतकाल से काट दिया, उसने अपने आपको भविष्यकाल से काट दिया। एकदम वर्तमान में है और वर्तमान की सच्चाई का निरीक्षण कर रहा है। यह सांस भीतर आया, यह सांस बाहर गया। भीतर आया, बाहर गया, तो सत्य है। कोई मोह-मूढ़ता नहीं है, कोई अज्ञान नहीं है। जब सांस भीतर आया तो उसके प्रति राग नहीं जगा रहा, सांस आ रहा है, अपने स्वभाव से आ रहा है। जब सांस आता है तो कौन यों करने लगता है – मुझे और सांस चाहिए रे! मुझे और सांस चाहिए रे! कौन राग जगाता है? आ रहा है, अपने स्वभाव से आ रहा है। हम द्रष्टाभाव से जान रहे हैं। हम साक्षीभाव से जान रहे हैं। हम तटस्थभाव से जान रहे हैं तो राग नहीं है। सांस जा रहा है तो कहां प्रतिक्रिया होती है –सांस नहीं चाहिए रे! जल्दी चला जाय! हमें सांस नहीं चाहिए, हमें सांस नहीं चाहिए! ऐसा द्वेष कौन जगाता है? नहीं जगाते। सांस आ रहा है, जा रहा है। इसको यथाभूत जैसा है वैसा जान रहे हैं तो उस क्षण मोह-मूढ़ता नहीं है। उसके प्रति राग नहीं जग रहा है तो उस क्षण हमारा मानस राग-रंजित नहीं है। उसके प्रति द्वेष नहीं जाग रहा है तो उस क्षण हमारा मन द्वेष-दूषित नहीं है। राग-रंजित नहीं है, द्वेष-दूषित नहीं है, मोह-विमूढ़ित नहीं है, तो निर्मल है। निर्मल है। वह क्षण भले नन्हा-सा ही क्षण – बड़ा कीमती क्षण है, बड़ा कीमती है पवित्रता का वह क्षण। इससे स्वभाव पलटने लगा। लेकिन साथ-साथ उससे जरा कठिनाइयां भी आती हैं। अगर हमने अपने मन को किन्हीं शब्दों के सहारे समाहित कर दिया, किसी कल्पना के सहारे समाहित कर दिया, अथवा मानस के ऊपर-ऊपर कोई बहुत अच्छा आत्म-सुझाव देकर के, बहुत अच्छा लेप लगा करके उसे शांत कर दिया। अच्छी बात है। थोड़ा तो लाभ हुआ। लेकिन हमारे विकारों का क्या हुआ? हमारे राग का, हमारे द्वेष का, हमारे मोह का क्या हुआ? वे तो भीतर ही भीतर, भीतर ही भीतर उसी तरह सुलग रहे हैं।

तो जैसे ही इस विद्या के सहारे जहां कोई रूप नहीं, जहां कोई आकृति नहीं, कोई शब्द नहीं और बीच में अड़चन आने वाली कोई बात बिल्कुल नहीं। केवल सांस, केवल सांस को देखते-देखते एक क्षण भी ऐसा आया जिसमें राग नहीं, जिसमें द्वेष नहीं, जिसमें मोह नहीं, जैसे ही वह पवित्र क्षण आया कि भीतर से कोई बहुत बड़ा भूचाल जैसा उठा। कोई वालामुखी फूटा। क्यों क्या हुआ? किसी का पांव दुखने लगा, किसी का सिर दुखने लगा, किसी का जी मचलाने लगा। अरे, यहां तो आनंद के लिए ध्यान करने आये थे लेकिन यह क्या हो गया? अरे, कल्याण के लिए शुरू हो गया मन का आपरेशन। फोड़े का आपरेशन होगा तो उसके भीतर जो पीप है वह उभर कर आयेगी ही। तो भीतर जो हमने राग के अंगारे भर रखे हैं, द्वेष के अंगारे भर रखे हैं, मोह के अंगारे भर रखे हैं –धधक रहे हैं। पहले हम उन पर मोटी-मोटी राख की तह लगा देते थे। "भस्माच्छन्नो व पावको" –भगवान ने कहा कि जैसे कोई भस्मचढ़ी पावक। जलते हुए अंगारों पर भस्म चढ़ा दी तो लगता है, आग नहीं है। अरे, बहुत आग है भीतर। भीतर इतनी आग है और यह एक क्षण पवित्रता का मिला तो मिलते ही जैसे पॉजिटिव और नेगेटिव मिले, धन और ऋण मिले। भीतर की यह गर्मी और इस एक क्षण की पवित्रता की शीतलता, जैसे ही आपस में संपर्क हुआ कि बहुत बड़ा विस्फोट हुआ। होगा ही। वैसे ही जैसे कि सी गर्म चूल्हे को ठंडा करना है और उस पर चुल्लू भर पानी डालते हैं तो प्रतिक्रिया होती है, 'छूं' करके आवाज होती है। फिर ठंडा पानी डालते हैं, फिर 'छूं' करके आवाज होती है। वह गर्म चूल्हा तब तक 'छूं, छूं' करता ही चला जायगा जब तक कि उसका तापमान इस ठंडे पानी के बराबर नहीं हो जायगा। वह भी ठंडे पानी की तरह ठंडा हो गया। अब चाहे जितना ठंडा पानी डालो। कोई 'छूं-छां' नहीं करेगा।

ठीक इसी प्रकार, इसी सिद्धांत के अनुसार भीतर जो अंगारे जल रहे हैं उन पर ये शीतल जल के छींटे पड़े कि भीतर एक बहुत बड़ा विस्फोट हुआ। उससे साधक को जरा बेचैनियां हुइर्। यह भी एक बहुत मोटा कारण है। जिसकी वजह से चाहते हैं कि पहला शिविर दस दिनों का किसी तपोभूमि में जाकर के किसी योग्य व्यक्ति द्वारा, अनुभवी व्यक्ति द्वारा, अधिकारी व्यक्ति द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त करके ही इस विद्या को सीखें। अन्यथा ऐसी अवस्था में हमें क्या करना है, इसका मार्गदर्शन नहीं मिलेगा तो कठिनाइयां पैदा हो जायेंगी।

इसलिए खूब सजग रह करके, किसी तपोभूमि में जाकर के जैसे बताया जाय, जैसे बताया जाय, ठीक वैसे ही करते चले जायेंगे, करते चले जायेंगे तो अनुभवी लोग हैं सिखाने वाले, अपने आप ठीक रास्ते ले जाते, ले जाते, ले जाते मन को इस लायक बना देंगे कि सारी अवस्थाओं में वह समता में रहेगा। अपना संतुलन नहीं खोयेगा और निर्मल होता जाएगा, निर्मल होता जाएगा। साधना इसीलिए तो है, चित्त निर्मल होता जाय, निर्मल होता जाय। निर्मल चित्त होगा तो मंगल ही मंगल होगा। निर्मल चित्त होगा तो कल्याण ही कल्याण होगा। निर्मल चित्त होगा तो स्वस्ति ही स्वस्ति होगी। निर्मल चित्त होगा तो मुक्ति ही मुक्ति होगी। जो-जो अपने चित्त को निर्मल करने के काम में लग जायँ, जड़ों तक निर्मल करने के काम में लग जायँ, उनका मंगल ही मंगल, कल्याण ही कल्याण, स्वस्ति ही स्वस्ति, मुक्ति ही मुक्ति।

मंगल-मृत्यु

बड़ोदा के डॉ. सुभाष मोरे लिखते हैं, "**'विपश्यना'** में चिकित्सा विज्ञान को चकित करने वाली मृत्यु-सूचनाएं पढ़ता रहा हूं। परंतु विश्वास तब हुआ जब स्वयं मेरे पिताश्री शंकरराव दिवंगत हुए। वे ८४ वर्ष के सेवानिवृत्त, सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता थे और नियमित विपश्यना का अभ्यास करते थे। अंतिम क्षण तक सब को विपश्यना में जाने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। उनको जब गले की असाध्य बीमारी का पता चला तो सहजभाव से मृत्युवरण के लिए तत्पर हो गए। गले के नीचे कुछ न उतर पाने के कारण केवल आई.वी.फ्लूड (इंट्रावीनस इंजेक्शन) पर अंतिम क्षण तक स्वस्थ व शांत रहे। बड़ोदा से पूना पहुँचने पर मृत्यु के २३ घंटे बाद भी शरीर बिल्कुल ढीला और चेहरे पर आभा व्याप्त थी। जबकि सामान्यतः स्नायु सिकुड़ने पर शरीर अकड़ जाता है। उस समय की फोटो भी यही दर्शाती है कि अभी सोते से उठ कर बात करेंगे। उनकी मृत्यु के ५० दिन पश्चात माताश्री भी चली गयीं। इन घटनाओं से यही सीख मिलती है कि **'विपश्यना जीवन और मृत्यु को सहजभाव से स्वीकार करने तथा समता बोध आत्मसात करने का एक श्रेष्ठ माध्यम है।'** ..."